भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व

डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

संस्कृति का अर्थ, स्वरूप एवं लक्ष्य

भारतीय परंपरा में ऐसे अनेक ऋषि-मुनि और विचारशील व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने निष्ठा, तप, स्वाध्याय (स्वयं पढ़ने और समझने) तथा आत्मचिंतन को जीवन का मुख्य आधार बनाया। वे सभी इस बात पर एकमत थे कि मानव के सर्वांगीण विकास के लिए जिस भावना की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है 'संस्कृति'। संस्कृति वह जीवनशैली है जो मनुष्य को सबसे पहले और सबसे बेहतर ढंग से जीना सिखाती है। यह उसकी सोच, श्रम और रचनात्मक परंपराओं का परिणाम है। जब मनुष्य कुछ नया, अच्छा और उपयोगी कार्य करता है चाहे वह कला, विज्ञान, सामाजिक व्यवस्था या कोई परंपरा हो तो वही संस्कृति कहलाती है। इसलिए संस्कृति को मनुष्य द्वारा अजिज़्त और विकसित तत्व माना गया है। संस्कृति को सही ढंग से समझने के लिए प्रकृति से उसका भेद जानना आवश्यक है। प्रकृति वह है जो मानव की रचना नहीं है — जैसे पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, आकाश आदि। ये सब एक महान शक्ति, अर्थात् ईश्वर की सृष्टि हैं। जबकि मनुष्य इन्हीं प्राकृतिक तत्वों का उपयोग करके जो कुछ नवसृजन करता है—वह संस्कृति होती है। उदाहरणस्वरूप, पत्थरों से भवन बनाना, धातुओं से उपकरण बनाना, शब्दों से काव्य और विचारों से दशज़्न रचना — ये सब संस्कृति के अंग हैं। संस्कृति की आत्मा समत्वभाव है अर्थात् सबको समान देखने और मानने की भावना। यही संस्कृति का सार है, जो मनुष्य को मानवीय मूल्यों, करुणा, सह-अस्तित्व और सामाजिक समरसता की ओर ले जाती है।

'संस्कृति' शब्द का उद्‌भव अंग्रेज़ी के 'कल्चर' शब्द से माना जाता है, जिसका स्रोत लैटिन भाषा के 'कल्चरों' तथा 'कोलियर' शब्द हैं। इनका तात्पर्य उत्पादन करना और उसका परिष्कार करना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति केवल विचारों तक सीमित नहीं होती, अपितु वह मानव के व्यवहार एवं कर्मों से भी गहराई से संबंधित है। आचार्य नरेन्द्र देव के शब्दों में, ''संस्कृति चित्तभूमि की खेती है।'' संस्कृत भाषा में 'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति धातु 'कृी' (अर्थात् करना) से मानी

जाती है, जिसमें 'सम्' उपसर्ग, 'सद्' आगम और 'तिन्' प्रत्यय के योग से यह शब्द निर्मित होता है। इस प्रकार, 'संस्कृति' का शाब्दिक अर्थ है 'सम्यक् प्रकार से किया गया कार्य या व्यवहार।' यह उन सभी मानवीय विचारों, चेष्टाओं, आचरणों और परंपराओं को समाहित करता है जो कालान्तर में धार्मिक, आध्यात्मिक, लौकिक अथवा राजनीतिक कारणों से स्थायी स्वरूप धारण कर लेते हैं।

डॉ. देवराज के अनुसार, किसी व्यक्ति की संस्कृति केवल उसकी परंपरा, भाषा अथवा कला तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह उसकी मूल्य-चेतना का प्रतिफल होती है। यह मूल्य-चेतना व्यक्ति की संपूर्ण बौद्धिक एवं आत्मिक चेतना के समन्वय से विकसित होती है। संस्कृति की यह चेतना केवल आदर्शों की काल्पनिक संरचना नहीं रचती, बल्कि संभावनाओं को अर्थवान तथ्यों में रूपांतरित करने की एक सर्जनात्मक प्रक्रिया भी होती है। डॉ. देवराज के अनुसार, यह चेतना संभाव्य को अर्थवत् में परिणत करने की सामर्थ्य रखती है। जिस मूल्यबोध और आदर्श के लिए व्यक्ति जीता है, उसी के सौंदर्य और गरिमा से उसकी सांस्कृतिक चेतना का स्तर निर्धारित होता है।

श्री अरविन्द के अनुसार, भारतीय संस्कृति की विशेषता इस बात में निहित है कि इसने जीवन-मूल्यों एवं जीवन-संबंधी शिक्षण को केवल आदर्श अथवा विमर्श का विषय भर नहीं माना, बल्कि उन्हें संस्थानात्मक स्वरूप प्रदान कर समाज के विविध स्तरों पर व्यवस्थित ढंग से प्रतिष्ठित भी किया। वे संकेत करते हैं कि पाश्चात्य अथवा अन्य संस्कृतियों में जिन तत्वों की अभिव्यक्ति अव्यवस्थित, अस्पष्ट अथवा आंशिक रूप में हुई है, भारतीय संस्कृति ने उन्हें गहन, सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट ढाँचे में विकसित किया है।

समाज की समस्त मौलिक धारणाएँ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ और व्यवहारात्मक प्रक्रियाएँ संस्कृति में समाहित होती हैं। ये सभी तत्व समय के साथ परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं, जिससे वे मानव की निरंतर बदलती आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। किसी समाज की व्यवस्था और संचालन इसी सांस्कृतिक संरचना के माध्यम से संभव होता है। यह संरचना उन सर्वमान्य और व्यापक रूप से स्वीकृत विचारों तथा नियमों का समूह होती है, जिन्हें समाज के सभी सदस्य सहज रूप से स्वीकार करते हैं। संस्कृति की शुरुआत मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं — जैसे भोजन, जल, आत्म-सुरक्षा, सुरक्षित आवास और संतानोत्पत्ति की पूर्ति हेतु बनाए गए नियमों और विधियों से होती है। यही आवश्यकताएँ संस्कृति के विकास की आधारभूमि बनती हैं। इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरांत मनुष्य को सामाजिक संबंधों, मनोरंजन और सामूहिक जीवन की चाह होती है। इन आकांक्षाओं को सुव्यवस्थित

करने के लिए संस्कृति विशेष मानदंड एवं परंपराएँ निर्मित करती है। इसके बाद, मनुष्य की रुचि अपने व्यक्तिगत हितों से आगे बढ़कर अन्य जीवों, वस्तुओं और दैवीय शक्तियों की ओर उन्मुख होती है। यह चिंतन समय, स्थान और समाज की प्रकृति के अनुरूप विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। संस्कृति इन सभी जटिलताओं को विशिष्ट रीति से सुलझाने का प्रयास करती है और यही कारण है कि भिन्न-भिन्न समाजों की संस्कृतियों में विविधता दिखाई देती है।

संस्कृति का विकास उस संस्कृति के मूलभूत तत्वों पर आधारित होता है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय संस्कृति का मूल तत्व एक ऐसी भावना रही है जो सर्वात्मिक, सारगर्भित, महत्वाकांक्षी तथा श्रेष्ठता से युक्त है। अन्य शब्दों में, वह एक ऐसा उच्चतम तत्व और आदर्श रहा है जिसकी कल्पना मानव आत्मा कर सकती है। इसी प्रकार, प्रत्येक संस्कृति का मौलिक स्वरूप उस देश और काल विशेष की परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जिसमें वह विकसित हुई होती है। पश्चिमी चिंतक सोरोकिन ने संस्कृतियों के इन मूल तत्वों का विश्लेषण निम्न बिंदुओं के माध्यम से किया है —

1. सांस्कृतिक प्रक्रिया के आधारभूत तत्व
2. विचारधारा से संबंधित व्यवहारिक और भौतिक स्वरूप एवं स्तर
3. विभिन्न सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के बीच अंतसंर्बंध
4. सांस्कृतिक समूहों एवं उनकी संरचनाओं में परस्पर अंतर
5. सामाजिक और सांस्कृतिक तंत्रों के मध्य भिन्नताएँ
6. और अंत में, एक पूर्ण संस्कृति की संकल्पना

संस्कृति के इतिहास का अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि प्रत्येक संस्कृति, व्यक्ति के व्यक्तित्व पर एक अमिट छाप छोड़ती है। मनुष्य, अपनी विशिष्ट शारीरिक तथा स्नायविक संरचना के अद्वितीय समन्वय के साथ, उस संस्कृति का जीवंत प्रतीक बन जाता है जिसमें उसका निर्माण एवं विकास होता है। वह अपने जीवन में भौतिक संसार से प्राप्त अनुभवों और सांस्कृतिक संस्कारों के संगम द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान का गठन करता है। मानव जीवन का प्रारंभ सरलता और सहजता से हुआ था, परंतु संस्कृति ने उसके विचारों, व्यवहारों और जीवन-मूल्यों को दिशा देकर उसके व्यक्तित्व को परिष्कृत किया। तथापि, प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक मौलिक वैयक्तिकता सदैव विद्यमान रहती है, जिसे कोई भी संस्कृति पूर्णतः समाहित या आप्लावित नहीं कर सकती। सांस्कृतिक विशेषताएँ मूलतः व्यक्ति की बुद्धि, स्वभाव तथा नैतिक मूल्यों से अभिन्न रूप से जुड़ी होती हैं। ये गुण या तो स्वयं में मूल्यवान होते हैं अथवा मूल्य-निर्माण की क्षमता से युक्त होते हैं। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व में ये विशेषताएँ साधन एवं साध्य दोनों ही रूपों में अत्यंत

महत्वपूर्ण होती हैं।

सोलह संस्कार

भारतीय वैदिक संस्कृति में षोडश संस्कारों की परंपरा अत्यंत प्राचीन, व्यवस्थित और जीवनोपयोगी रही है। मनुष्य के गर्भाधान से लेकर शरीरत्याग तक, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और संक्रमण बिंदुओं पर धार्मिक संस्कारों का विधिवत आयोजन धर्मशास्त्रों में निर्देशित है। इन संस्कारों के आयोजन का उद्देश्य केवल बाह्य धार्मिक क्रिया नहीं, अपितु व्यक्ति की अंत:चेतना पर गहन प्रभाव डालकर उसे सुसंस्कृत, अनुशासित और सत्पथगामी बनाना है। जब बालक गर्भ में आता है, तभी से उसके जीवन को संस्कारशील बनाने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। जन्म से लेकर नामकरण, अन्नप्राशन से लेकर चूड़ाकर्म (मुंडन) तक ऋषियों ने ऐसी संस्कार-श्रृंखला का निर्माण किया जिसमें प्रत्येक संस्कार यज्ञ द्वारा संपन्न होता है। इन यज्ञों में दी गई विशिष्ट आहुतियाँ बालक के अंत:करण में श्रेष्ठता, संयम, नैतिकता और दिव्यता के बीजारोपण का कार्य करती हैं। यही नहीं, इन संस्कारों के माध्यम से उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का भी पूर्णत: ध्यान रखा गया है। ऋग्वेद, जिसे संसार का सर्वप्राचीन ग्रंथ माना गया है, उसमें मनुष्य को आदेश दिया गया है— मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। अर्थात् तू स्वयं श्रेष्ठ मनुष्य बन और दिव्यगुणों से युक्त उत्तम संतति को जन्म दे। वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार, जिस क्रिया के द्वारा मनुष्य की वाणी, चित्त और कर्म शुद्ध और उत्कृष्ट बनते हैं, उसे 'संस्कार' कहा जाता है। संस्कार किसी भी वस्तु के असंस्कृत, अपवित्र या कच्चे स्वरूप को परिवर्तित कर उसे सुसंस्कृत, परिष्कृत और उपयोगी बनाता है। बालक के स्वाभाविक रूप में उपस्थित दुर्गुणों का निष्कासन और सद्गुणों का आरोपण ही संस्कार की मूल भावना है। वैदिक परंपरा में वर्णित 16 संस्कार है जो गर्भाधान से अन्तेष्टी संस्कार तक हैं।

(1) गर्भाधान संस्कार :- वैदिक संस्कृति में गर्भाधान संस्कार को एक धार्मिक और पवित्र यज्ञ के रूप में माना गया है, जिसका उद्देश्य एक नवीन, श्रेष्ठ गुणों से युक्त, उत्तम स्वभाव वाली आत्मा का आह्वान करना होता है। जिस प्रकार किसी उत्तम वृक्ष अथवा फसल की प्राप्ति के लिए उपयुक्त भूमि, श्रेष्ठ बीज, पोषक खाद, उचित सिंचाई, अनुकूल जलवायु तथा उसकी रक्षा आदि की समुचित व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार एक बलिष्ठ, चरित्रवान और सुसंस्कारी संतान की प्राप्ति हेतु पति-पत्नी को गर्भाधान से पूर्व व्यापक तैयारी करनी होती है। आयुर्वेद के अनुसार, गर्भाधान के लिए न्यूनतम आयु पुरुष के लिए 25 वर्ष तथा स्त्री के लिए 16 वर्ष निर्धारित की गई है, ताकि भावी संतान को उत्तम स्वास्थ्य, विवेक एवं संस्कृति प्राप्त हो सके।

(2) पुंसवन संस्कार :- जब माता के गर्भ में संतान की स्थापना हो जाती है, तब प्रत्येक विवेकशील माता-पिता की यह स्वाभाविक अभिलाषा होती है कि वह बालक—चाहे पुत्र हो या पुत्री सशक्त, स्वस्थ, तेजस्वी, दीर्घायु और सौंदर्ययुक्त गुणों से परिपूर्ण हो। गर्भस्थ शिशु में ये गुण विकसित हों, इसके लिए वैदिक परंपरा में पुंसवन संस्कार का विधान किया गया है। यह संस्कार गर्भधारण के द्वितीय या तृतीय मास में सम्पन्न किया जाता है।

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार :- 'सीमन्त' का तात्पर्य है-मस्तिष्क, और 'उन्नयन' का अर्थ है-विकास। इस प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार का अभिप्राय है- ऐसा संस्कार जिसमें गर्भवती माता का ध्यान विशेष रूप से मानसिक एवं बौद्धिक विकास की दिशा में केंद्रित होता है। जहाँ पुंसवन संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ शिशु के शारीरिक पक्ष को पुष्ट करना है, वहीं सीमन्तोन्नयन संस्कार उसका मानसिक एवं भावनात्मक विकास सुनिश्चित करने हेतु सम्पन्न किया जाता है। संस्कार-प्रणाली के प्राचीन मनीषियों का यह दृढ़ विश्वास था कि गर्भवती माता की भावनाएं, चिंतन और वातावरण गर्भस्थ शिशु के चित्त पर गहरा प्रभाव डालते हैं। अत: सीमन्तोन्नयन संस्कार के माध्यम से गर्भवती माता को सात्विक विचारों, उत्तम संगति, और श्रेष्ठ साहित्य के संपर्क में लाकर शिशु के संपूर्ण व्यक्तित्व निर्माण की आधारशिला रखी जाती है। इसी कारण इसे अत्यंत महत्वपूर्ण संस्कार माना गया है।

(4) जातकर्म संस्कार :- 'जात' शब्द संस्कृत धातु 'जनिप्रादुर्भावे' से निष्पन्न है, जिसका तात्पर्य है— प्रकट होना अथवा उद्‌भव। अत:, बालक के जन्मोपरांत जो शास्त्रविहित कर्मकाण्ड वैदिक मंत्रों के साथ सम्पन्न किए जाते हैं, वे जातकर्म संस्कार के अंतर्गत आते हैं। बालक के जन्म के पश्चात् पिता द्वारा उसका बौद्धिक विकास, आयु-वृद्धि एवं सुसंस्कारिता हेतु यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसमें एक शुद्ध सुवर्ण शलाका द्वारा शिशु को घी और मधु का संयोजन चटाया जाता है— यह ओजस और बल की प्रतिष्ठा का प्रतीक है। साथ ही, शिशु की जिह्वा पर 'ओ३म्' का लेखन और कर्ण में 'वेदोऽसि' मंत्र का उच्चारण यह वैदिक संस्कृति की उस महान परंपरा का द्योतक है। पिता जब शिशु के कान में यह मंत्र फूंकता है तब वह उसे यह संकल्प देता है कि ''तू इस संसार में अज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान का प्रकाश बनकर जिए।''

(5) नामकरण संस्कार :- नामकरण, अर्थात् नाम का संस्कार, वैदिक जीवन प्रणाली का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। सामान्यत: जन्म के दसवें या बारहवें दिन शिशु का नाम वैदिक विधिपूर्वक रखा जाता है। इस संसार में संपूर्ण व्यवहार, पहचान और संबोधन का मूलाधार नाम ही है। जब तक किसी वस्तु, व्यक्ति या जीव की

कोई संज्ञा न हो, तब तक उसके विषय में केवल प्रत्ययात्मक ज्ञान संभव है, परंतु क्रियात्मक, व्यवहारिक अथवा उपयोगात्मक संबंध स्थापित नहीं हो सकता। नाम केवल पहचान का माध्यम ही नहीं, मानव जीवन के सौभाग्य, सम्मान और यश का भी कारण बनता है। इसलिए नामकरण संस्कार को वैदिक संस्कृति में कल्याणप्रद कर्मों का प्रारंभिक द्वार माना गया है। यह संस्कार न केवल भारतवर्ष, बल्कि विश्व की अधिकांश सभ्यताओं में किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा है, जो इसकी सांस्कृतिक सार्वभौमिकता को सिद्ध करता है।

(6) निष्क्रमण संस्कार :- निष्क्रमण, अर्थात् 'गृह से बाहर प्रस्थान', वैदिक संस्कारों की उस कड़ी का अंग है जहाँ शिशु को बाह्य जगत से प्रथम परिचय कराया जाता है। यह संस्कार प्रायः चतुर्थ मास में सम्पन्न होता है, जब शिशु को प्रथम बार उद्यान या खुली प्रकृति में ले जाया जाता है। तच्छुरिति' मंत्र का उच्चारण कर सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन कराया जाता है, जिससे शिशु की बुद्धि, दृष्टि, जीवनशक्ति एवं चैतन्य का विस्तार हो। सूर्य, जो वेदों में साक्षात् दिव्य नेत्र कहा गया है, उसे दिखाकर शिशु को यह सिखाया जाता है कि उसका जीवन भी तेजस्विता, अनुशासन और ऊर्जा से ओतप्रोत हो। इस आयु के शिशु अभी तक संस्कारहीन समाज और कृत्रिमता से अछूते होते हैं। उनकी आंखों में जिज्ञासा की प्रखरता, श्रद्धा की उजास और जीवन की नवोन्मेषी चमक होती है। जब उन्हें सूर्य के समक्ष लाया जाता है, तो यह केवल दर्शन नहीं होता, बल्कि उस चैतन्य केंद्र की ओर उनकी आत्मा का प्रथम आह्वान होता है— जैसे ज्वाला सूर्य की ओर उठती है, जैसे नदियां समुद्र की ओर बहती हैं। अतः निष्क्रमण संस्कार, शिशु के परिवेशीय जागरण और प्राकृतिक स्पर्श की वैदिक प्रक्रिया है, जो उसे गृह की सीमाओं से निकालकर विस्तृत सृष्टि के आलोक से जोड़ता है।

(7) अन्नप्राशन संस्कार :- अन्नप्राशन का तात्पर्य है— 'जीवन में प्रथम बार अन्न का ग्रहण करना।' शिशु जन्म से ही सतत विकासशील है— शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रूप से। आयुर्वेद एवं आधुनिक चिकित्सा दोनों इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि पांचवे या छठे मास से शिशु के शरीर को पोषण हेतु ठोस आहार की आवश्यकता होने लगती है। इसी शारीरिक परिवर्तन और आहार की योग्यता के प्रतीक रूप में छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार का विधान है। इस दिन, यज्ञ अग्नि प्रज्ज्वलित कर, घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं और 'देवी वबजमजयन्त' तथा 'बाजो नो अद्य' जैसे वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर पवित्रता, पोषण और दीर्घायु की कामना की जाती है। यज्ञ के उपरान्त स्थालीपाक (विशेष विधि से पकाया गया अन्न) तैयार किया जाता है, जिसमें विविध रसयुक्त, सुपाच्य अन्नों का समावेश होता है। फिर

पिता, हन्त शब्द के उच्चारण के साथ शिशु को चुपचाप प्रेमपूर्वक पहला अन्न ग्रास देता है। ब्राह्मण भोजनापरान्त यह संस्कार पूर्ण हो जाता है।

(8) कर्णवेध संस्कार :- कर्णवेध का अर्थ है- कान को बींध देना, उसमें छेद कर देना। सुश्रुत ने लिखा है- 'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्यते' अर्थात् बालक के कान दो उद्देष्यों से बीधें जाते हैं। एक उद्देश्य है बालक की रक्षा, दूसरा उद्देश्य है बालक के कानों में आभूषण डाल देना।

(9) चूडाकर्म संस्कार :- चूडाकर्म संस्कार का तात्पर्य बालक की दीर्घायु और कल्याण की कामना करना होता है। इस संस्कार का मुख्य भाग होता है— शिखा (चोटी) रखना। इसे मुंडन संस्कार, चूड़ाकरण, केशवपन, या क्षौर संस्कार भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें सिर के बालों से संबंधित विधि की जाती है। इस संस्कार को जन्म के पहले वर्ष या तीसरे वर्ष के भीतर पूरा करना चाहिए। प्राचीन मान्यता है कि नख और बाल का छेदन हर्ष, उत्साह, सौभाग्य और मनोबल को बढ़ाता है। साथ ही, धार्मिक रूप से यह विश्वास भी है कि शिखा रहित व्यक्ति को धार्मिक कर्मों का पूर्ण फल नहीं मिलता।

चिकित्सा, व्यवहार और धर्म— तीनों ही दृष्टियों से चूडाकर्म संस्कार का अपना विशेष महत्व है।

(10) अक्षरारम्भ :- जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हो जाता था तो उसे अक्षर का ज्ञान कराया जाता था। इसे अक्षरारम्भ संस्कार कहते थे।

(11) उपनयन संस्कार :- उपनयन संस्कार को सभी संस्कारों में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। उपनयन का का तात्पर्य है — गुरु के पास ले जाना। इसका उद्देश्य है बालक को शिक्षा की ओर ले जाना और उसे विद्यार्थी जीवन में प्रवेश दिलाना। यही कारण है कि यह संस्कार विद्यारंभ से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इस संस्कार के माध्यम से बालक को आचार्य के पास ले जाया जाता है, जहां वह वेदों और अन्य शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करता है। यज्ञोपवीत धारण कराना इस संस्कार का प्रमुख कार्य होता है। उपनयन का असली अर्थ यह है कि अब माता-पिता बालक को अच्छे संस्कारों के साथ गुरु के हवाले कर रहे हैं, ताकि वह अपने जीवन में एक नवीन, अनुशासित और उच्च्व उद्देश्य से प्रेरित जीवन जी सके। आचार्य उसे उसके स्वभाव के अनुसार उचित मार्गदर्शन देकर जीवन की दिशा तय करने में सहायता करते हैं। यज्ञोपवीत के तीन धागे तीन ऋणों का प्रतीक होते हैं- ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण जिन्होंने प्रकृति व समाज के रूप में सहयोग किया। यह संस्कार सामान्यत: आठवें से ग्यारहवें वर्ष के बीच किया जाता है। ब्राह्मण के लिए 8 वर्ष,

क्षत्रिय के लिए 11 वर्ष, और वैश्य के लिए 12 वर्ष की आयु निर्धारित की गई थी। अधिकतम आयु क्रमशः 16, 22 और 24 वर्ष तक मानी गई। सूत्रकाल के पहले यह केवल धार्मिक संस्कार था और इसे वैकल्पिक माना जाता था। लेकिन स्मृति काल में इसका सामाजिक महत्व भी बढ़ा और यह अनिवार्य संस्कार बन गया। वात्स्यायन कहते हैं कि स्मृतियों में उपनयन को एक रहस्यमय महत्व दिया गया। गायत्री मंत्र के माध्यम से इसे 'दूसरा जन्म' माना गया, और इस प्रकार यह वेदविद्या में प्रवेश की दीक्षा का प्रतीक बन गया।

(12) वेदारम्भ संस्कार :- वेदारंभ संस्कार का अर्थ है — वेदों के अध्ययन की औपचारिक शुरुआत करना। इस संस्कार के समय बालक को यह कहा जाता था — आज से तुम ब्रह्मचारी हो। अब तुम्हें आचार्य के अधीन रहकर वेदों और अन्य विद्याओं का अध्ययन करना है, और उनकी आज्ञा का पालन करना है। वैदिक संस्कृति में आचार्य केवल ज्ञान देने वाले शिक्षक नहीं होते थे, बल्कि उनका उद्देश्य एक चरित्रवान, मर्यादित और अनुशासित व्यक्ति को गढ़ना भी होता था। प्रारंभिक काल में उपनयन संस्कार के साथ ही वेदाध्ययन भी आरम्भ हो जाता था, क्योंकि आचार्य ही विद्यार्थी का शिक्षक होता था। लेकिन जब कालांतर में उपनयन संस्कार कराने वाला व्यक्ति विद्यार्थी की शिक्षा से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा नहीं रह गया, तब शिक्षा के वास्तविक आरंभ को चिन्हित करने के लिए वेदारंभ संस्कार की परंपरा शुरू की गई।

(13) केशान्त (गोदान) :- केशान्त संस्कार का तात्पर्य है — बालक के जीवन में पहली बार मुंडन (केशों को पूर्णतः कटवाना) करना, जो कि यौवन की दहलीज पर पहुँचने का प्रतीक होता था। इस अवसर पर आचार्य को 'गौदान' अर्थात् गाय का दान भी दिया जाता था, इसीलिए इसे गोदान संस्कार भी कहा जाता है। डॉ. वात्स्यायन के अनुसार, यह संस्कार लगभग सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न किया जाता था और इसे यौवन के प्रारंभ का सूचक माना गया है। इस संस्कार के माध्यम से यह स्वीकार किया जाता था कि बालक अब किशोरावस्था पार कर युवा जीवन में प्रवेश कर चुका है, और उसके जीवन में उत्तरदायित्व तथा आत्मनियंत्रण की भूमिका बढ़ रही है।

(14) समावर्तन संस्कार :- समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्य आश्रम तथा विद्यार्थी जीवन की पूर्णता का प्रतीक होता था। इसका आशय यह था कि वेदाध्ययन तथा शास्त्रों की शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद शिष्य गुरुकुल से विदा होकर अपने गृह की ओर लौटता है। इस संस्कार के माध्यम से यह घोषित किया जाता था कि अब विद्यार्थी ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण रूप से वेद-वेदांग, विद्या और व्यवहारिक ज्ञान अर्जित कर लिया है, और अब वह विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थ जीवन

में प्रवेश के लिए योग्य हो गया है।

(15) विवाह संस्कार :- विवाह हिन्दू जीवन के सोलह संस्कारों में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्कार है। यह अपने महत्व में उपनयन संस्कार के बाद दूसरे स्थान पर आता है। इतना ही नहीं, गृहसूत्रों में संस्कारों की गणना विवाह से ही आरम्भ होती है, जिससे इसके सामाजिक और धार्मिक महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक युग से ही विवाह एक आवश्यक, केंद्रीय संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। यह न केवल एक पारिवारिक अनुबंध है, बल्कि समाज की संरचना का मूल आधार भी है। समाज, वास्तव में व्यक्तिगत संबंधों और विशेष रूप से वैवाहिक संबंधों का ही विस्तार है। इस दृष्टि से विवाह एक सामाजिक संस्था का बीज है, जिसमें व्यक्ति का जीवन समाज की दिशा में विकसित होता है। विवाह का आशय है — ऐसा सम्बन्ध, जिसमें स्त्री और पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत और विद्या से सम्पन्न होकर, समान सद्‌गुणों, कर्मों और स्वभाव के साथ, आपसी प्रेम और स्नेह से बंधकर, संतानोत्पत्ति तथा वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कर्तव्यों के निर्वाह हेतु एक-दूसरे के जीवन में सहभागी बनते हैं।

विवाह के रूप

भारतीय संस्कृति में विवाह को केवल एक सामाजिक अनुबंधन न मानकर धार्मिक संस्कार की संज्ञा दी गई है। यह केवल स्त्री-पुरुष का संयोग नहीं अपितु दो आत्माओं का ऐसा मिलन है जिसका उद्देश्य धर्म, सन्तान और मोक्ष है। हिन्दू धर्म में विवाह को अविनाशी बंधन माना गया है, और यह स्त्री एवं पुरुष के संयुक्त जीवन की आध्यात्मिक और सामाजिक व्यवस्था को स्थिर करता है। अतः नारद, याज्ञवल्क्य, मनु आदि स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है । मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है-

ब्राह्म, दैवस्तथार्षः प्राजापात्यस्तयासुरः।
गान्धर्वो राक्षसचैव पैशाश्चापमोघडमः।।

इस प्रकार आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता प्रदान की गई है- ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस, असुर और पैशाच। स्मृतियों में भी बहुधा आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता प्रदान की गई है। इन प्रकारों में से अनेकों का मूल वैदिक साहित्य में पाया जा सकता है । स्मृतिकाल तक इन आठ प्रकार के विवाहों का समाज में भली भाँति प्रचलन हो गया था। इन आठ प्रकारों को निम्नानुसार समझा जा सकता है:

(1) ब्रह्म विवाह :- इस विवाह में किसी भी पक्ष पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता था। अतः यह सर्वोत्तम विवाह माना जाता है। इसमें कन्या को अच्छे

गुणों वाले, विद्वान् ब्राह्मण को बिना किसी दहेज या लेन-देन के दिया जाता है। यह पूर्णत: धार्मिक और नैतिक मापदंडों पर आधारित होता है।

(2) दैव विवाह :- इसमें कन्या को यज्ञ में पुरोहित के रूप में उपस्थित ब्राह्मण को दान स्वरूप दिया जाता है। यह एक प्रकार का यज्ञीय दान है और विशेष धार्मिक अवसरों से जुड़ा होता है।

(3) आर्ष विवाह :- इसमें वर द्वारा एक गाय और एक बैल देकर कन्या प्राप्त की जाती है। इसे सादगीपूर्ण विवाह माना जाता है जिसमें आर्थिक दृष्टि से भारी व्यय नहीं होता।

(4) प्राजापत्य विवाह :- यह विवाह ब्राह्म विवाह जैसा ही है, लेकिन इसमें कन्या के पिता कन्या को यह कहते हुए देता है -धर्मेन पतिसंयुक्ता भव। यह विवाह धार्मिक कर्तव्यों के पालन पर केंद्रित होता है।

(5) गान्धर्व विवाह :- यह प्रेम विवाह का प्रकार है। इसमें वर-वधू की आपसी सहमति से विवाह होता है। यह आज के समय में सर्वाधिक प्रचलित रूप है, किंतु प्राचीन काल में इसे मध्यम स्तर का माना गया।

(6) राक्षस विवाह :- इसमें कन्या का अपहरण कर जबरन विवाह किया जाता है। यह क्षत्रियों के बीच युद्धकाल या बल प्रदर्शन की स्थितियों में होता था।

(7) असुर विवाह :- इसमें वर कन्या के परिवार को धन देकर कन्या प्राप्त करता है। यह एक प्रकार की खरीदारी जैसा लेन-देन माना जाता है, अत: इसे नीच विवाहों में गिना गया।

(8) पैशाच विवाह :- यह अधम और अस्वीकार्य विवाह है, जिसमें किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध, या निद्रा, नशा या असहाय स्थिति में विवाह किया जाता है।

इन आठ प्रकारों में से ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह को धार्मिक और नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है। ये चारों विवाह नारी की स्वीकृति, सम्मान और आत्मनिर्भरता पर आधारित होते हैं। वहीं गान्धर्व, राक्षस, असुर और पैशाच विवाहों को अधम अथवा अधोमुखी कहा गया है, यद्यपि कुछ को (जैसे गान्धर्व) विशेष परिस्थितियों में सामाजिक मान्यता भी मिलती थी।

इनके अतिरिक्त सेवा-विवाह और विनिमय-विवाह भी कहीं-कहीं प्रचलित थे। विनिमय विवाह अधिकतर गरीबों में होते थे। आधुनिक हिन्दू समाज में केवल विवाह के दो रूप पाये जाते हैं। प्रथम ब्राह्म विवाह और द्वितीय आसुर विवाह। डॉ. मजूमदार ने लिखा है कि 'यद्यपि अब ब्राह्म विवाह उच्च जातियों में तथा आसुर विवाह निम्न जातियों में प्रचलित हैं तथापि उच्च जातियों में आसुर विवाह पूर्णतया

मिट नहीं गया है।

वर्तमान युग में लड़कों की शिक्षा पर अधिक व्यय करना पड़ता है अत: वर का पिता यह विचार करता है कि उसके लड़के की शिक्षा का व्यय कन्या-पक्ष को भुगतान करना चाहिए और इस रूप में वह अच्छे दहेज की आकांक्षा रखता है। किन्तु धीरे-धीरे दहेज का अभिशाप सभी को त्रस्त कर रहा है और समाज इसे दूर करने के लिये प्रयत्नशील हैं। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू विवाह धार्मिक विचारों और संस्कारों से ओत-प्रोत है ।

(16) अन्त्येष्टी संस्कार :- अन्त्येष्टि का शाब्दिक अर्थ है— 'अंतिम यज्ञ' या 'अंतिम संस्कार'। यह वह संस्कार है जो मनुष्य के जीवन की अंतिम प्रक्रिया के रूप में संपन्न किया जाता है। इस संस्कार के बाद उस शरीर से संबंधित कोई अन्य संस्कार शेष नहीं रहता। इसी को नरमेध, नरयज्ञ या पुरुषयज्ञ भी कहा जाता है। मृत्यु, जीवन का स्वाभाविक और अनिवार्य चरण है। इसलिए हमारे वैदिक ऋषियों ने अन्त्येष्टि संस्कार से संबंधित विभिन्न विधियों और विधानों का विशद रूप से वर्णन किया है। वेदों के अनुसार, मानव शरीर पंचमहाभूतों— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना है। अत: मृत्यु के पश्चात् इस शरीर को इन पंचतत्वों में शीघ्रता से विलीन कर देना ही वैदिक परंपरा की मूल भावना है।

निष्कर्षत: उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कारों के द्वारा ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास तथा निर्माण हो सकता है। मानव की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति के लिये जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त विभिन्न अवस्थाओं के अनुकूल संस्कारों की व्यवस्था वेद के मनीषी एवं कर्मकाण्ड के मर्मज्ञ ऋषि-मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है। इसलिये यह कहा गया है- 'संस्काराट् द्विज उच्यते' संस्कारों से परिष्कृत मनुष्य द्विज कहलाते हैं। अन्यथा संस्कार हीन व्यक्ति द्विज बनने के योग्य नहीं होते और वे धन-धान्य से सम्पन्न होकर भी शुद्र ही रहते है। संसार का सुख, भौतिकता का सुख क्षणिक है केवल भौतिक साधन मनुष्य के तब तक सुख के साधन नहीं बन सकते जब तक कि सच्चे मानव का, सहदय मानव का निर्माण नहीं होता है। मानव निर्माण की आधारशिला है संस्कार। इस प्रकार मानव को मर्यादित मानव बनाते है संस्कार, दानव को मानव बनाते हैं संस्कार, चरित्र निर्माण करते हैं संस्कार, जीव को लक्ष्य तक पहुँचाते हैं संस्कार, मानवीय गुणों का विकास करत हैं संस्कार, आत्मोन्नति के साधन हैं संस्कार, जन्म-जन्मातरों के दोषों का अपनयन कर उनमें उत्तम गुणों का संचार करते है संस्कार, संस्कार से मानव कमनीय बनता है। अत: जीवन निर्माण के लिये हमें संस्कारों को अपनाना चाहिये।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मनुष्य के समग्र विकास और व्यक्तित्व-

निर्माण में संस्कारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए, जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप संस्कारों की अत्यंत सुव्यवस्थित प्रणाली हमारे वैदिक मनीषियों और कर्मकाण्ड-प्रवीण ऋषि-मुनियों द्वारा बनाई गई है। इसीलिए कहा गया है— 'संस्काराट् द्विज उच्यते', अर्थात् संस्कारों से ही मनुष्य 'द्विज' अर्थात् 'द्वितीय जन्म से युक्त' कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति संस्कारों से शून्य है, तो वह धन-सम्पदा से सम्पन्न होते हुए भी शूद्र ही माना जाता है। संसार के सुख और भौतिक उपलब्धियाँ क्षणिक होती हैं। जब तक व्यक्ति में सच्चा मानवत्व, सहृदयता और नैतिकता का विकास नहीं होता, तब तक भौतिक साधन भी उसके लिए वास्तविक सुखदायक नहीं बन सकते और यह सच्चा मानव निर्माण तभी संभव है जब उसका जीवन संस्कारों से आलोकित हो। संस्कार ही हैं जो मनुष्य को मर्यादित बनाते हैं, दानव प्रवृत्तियों को मानवता में बदलते हैं, चरित्र की नींव रखते हैं, जीवन को लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं, मानवीय गुणों का विकास करते हैं, आत्मिक उत्थान के साधन बनते हैं, तथा पूर्वजन्मों के दोषों का परिमार्जन कर सद्गुणों का संचार करते हैं। संस्कारों के माध्यम से ही मनुष्य आकर्षक, आदर्श और आदरणीय व्यक्तित्व धारण को करता है। अत: यदि हम एक सच्चे, सहृदय और संस्कारित समाज का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें अपने जीवन में संस्कारों को अपनाना और आत्मसात् करना अनिवार्य है।

आश्रम व्यवस्था का महत्व

'आश्रम' का तात्पर्य जीवन के उस चरण से है, जिसमें मनुष्य कठिन परिश्रम करता है। यह शब्द संस्कृत की 'श्रम' धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अभिप्राय है— श्रम करना अथवा प्रयास करना। इसका एक दूसरा संदर्भ 'आश्रय' शब्द से भी जुड़ता है, जिसका अर्थ होता है— ठहरना अथवा विश्राम करना। आशय यह है कि मनुष्य किसी विशेष कार्य को पूरा करने के लिए जीवन की एक निश्चित अवस्था में ठहरकर कार्य करता है।

प्रख्यात समाजशास्त्री पी. एन. प्रभु के अनुसार, 'आश्रम' दो अर्थों में प्रयुक्त होता है— (1) वह स्थान जहाँ परिश्रम अथवा उद्योग किया जाता है, तथा (2) वह प्रक्रिया या क्रिया, जिसमें यह परिश्रम किया जाता है।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया है— (1) ब्रह्मचर्य, जिसमें व्यक्ति ज्ञान, अनुशासन और चरित्र निर्माण की शिक्षा प्राप्त करता है; (2) गृहस्थाश्रम, जिसमें वह विवाह कर सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करता है; (3) वानप्रस्थ, जिसमें वह सांसारिक बंधनों से विरक्त होकर तप और आत्मचिंतन हेतु वन गमन करता है; तथा (4) संन्यास, जिसमें वह समस्त लौकिक

संबंधों का परित्याग कर मोक्ष की साधना में लीन हो जाता है।

यह आश्रम व्यवस्था सूत्रकाल से ही भारतीय सामाजिक जीवन की आधारशिला रही है। इसका प्रमुख उद्देश्य था— व्यक्ति को संयमित, मर्यादित और कर्तव्यनिष्ठ बनाना तथा सामाजिक संरचना को वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत सुव्यवस्थित रूप में बनाए रखना। आलोच्य काल में भी यह परंपरा निरंतर प्रवाहित होती रही। महाभारत के शांति पर्व में इसकी महत्ता स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि ब्रह्मा ने लोकहित के लिए धर्म की रक्षा हेतु इस व्यवस्था की सृष्टि की थी।

मनुस्मृति में भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों का विशद उल्लेख मिलता है। इन्हें ही जीवन की सफलता की चार सीढ़ियाँ माना गया है, जिन पर चलकर द्विज अर्थात् द्विजाति व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक और पूर्ण बना सकता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम :- उपनयन संस्कार के साथ ही बालक का प्रवेश ब्रह्मचर्य आश्रम में हो जाता था, और वह उन समस्त कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का अधिकारी माना जाता था, जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रों में विस्तार से किया गया है। उपनयन के पश्चात उसे शिक्षा ग्रहण हेतु गुरुकुल में भेजा जाता, जहाँ उसका जीवन कठोर अनुशासन, संयम और साधना से परिपूर्ण होता। यह जीवन का वह चरण होता था, जिसे अध्ययन, आत्मनियंत्रण और चरित्र निर्माण के काल के रूप में देखा जाता था। इस काल में ब्रह्मचारी को समस्त सांसारिक सुखों और विलासिता से विमुख होकर, अपने तन-मन को तप और शिक्षा में संलग्न करना होता था। यही कारण है कि महाभारत के शांति पर्व में ब्रह्मचारियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है— उत्तम, मध्यम और हीन, जो उनके अनुशासन और साधना के स्तर पर आधारित थे। मनु, याज्ञवल्क्य और अन्य धर्मशास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी के आचार-विचार, रहन-सहन और दिनचर्या का विस्तार से वर्णन किया है। मनुस्मृति में वर्णित है कि ब्रह्मचारी को पोशाक, आहार और भिक्षाटन के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। वस्त्र संबंधी विधान के अनुसार ब्राह्मण को सन (काठ की छाल से बना वस्त्र), क्षत्रिय को रेशम और वैश्य को ऊन पहनने की अनुमति थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि जितना उच्च वर्ण का विद्यार्थी होता, उतना ही अधिक कठोर वस्त्र उसे धारण करने पड़ते थे। यह वैराग्य और सहिष्णुता का अभ्यास था। ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत (जनेऊ) तथा दण्ड धारण करना आवश्यक था। वह न तो शरीर पर तेल लगाता, न नेत्रों में अंजन (सुरमा), न इत्र, न छत्री या जूते का उपयोग करता था। संगीत, नृत्य, जुआ, वाद्ययंत्र और गपशप जैसे भोगप्रधान व्यवहारों से भी उसे दूर रहना पड़ता था। उसका जीवन सत्यनिष्ठा, नम्रता, संयम और काम, क्रोध, लोभ से मुक्ति के सिद्धांतों पर आधारित होता था।

ब्रह्मचारी को नियम था कि वह गुरु से पहले उठे और गुरु के बाद ही शयन करे। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार, विद्यार्थी को चाहिए कि वह अध्ययन में मन लगाए, गुरु की सेवा करे, जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे पहले गुरु को अर्पित करे और मनसा, वाचा और कर्मणा (मन, वाणी और कर्म) से गुरु के अनुकूल आचरण करे। जब उसकी शिक्षा पूर्ण हो जाती, तब गुरु द्वारा समावर्तन संस्कार संपन्न कराया जाता — जो कि गुरुकुल से विदा लेकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश की औपचारिक प्रक्रिया थी। ऐसे विद्यार्थी, जो जीवनपर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए गुरु के पास ही रहकर अध्ययन करते थे, उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था।

गृहस्थ आश्रम :- समावर्तन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी अपने घर प्रस्थान करता था और विवाह के माध्यम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। यह आश्रम जीवन की वह अवस्था है जिसमें मनुष्य अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों की मर्यादित साधना करता है। यह आश्रम न केवल सामाजिक जीवन का प्रारंभ है, बल्कि व्यक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण कर्तव्य भी है, जिसके माध्यम से वह ऋणों के परिपालन और धर्मार्जन की दिशा में अग्रसर होता है। मनुस्मृति में गृहस्थ आश्रम को समस्त आश्रमों का मूल आधार कहा गया है। मनु का कथन है — जैसे सभी प्राणी वायु के आश्रय से जीवित रहते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम- ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ आश्रम पर निर्भर रहते हैं, क्योंकि इन सभी आश्रमों के निवासियों का पालन-पोषण गृहस्थ जनों द्वारा ही होता है। इसीलिए गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम की संज्ञा दी गई है।

महाभारत के शांति पर्व में भी गृहस्थ जीवन की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि गृहस्थाश्रम का भार तीनों अन्य आश्रमों के सम्मिलित भार के समान है। यह आश्रम केवल व्यक्तिगत सुख-साधनों की पूर्ति का माध्यम नहीं था, अपितु यह समाज की रीढ़ के रूप में कार्य करता था। स्त्रियों और शूद्रों के लिए केवल गृहस्थ आश्रम का ही विधान किया गया था, जिससे वे सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से सहभागी बन सकें। इसी आश्रम में रहते हुए व्यक्ति अपने तीन प्रमुख ऋणों — ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण का निर्वाह करता था। वह ऋषियों के प्रति स्वाध्याय और ज्ञानार्जन के द्वारा, देवताओं के प्रति यज्ञ-हवन और धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से, तथा पितरों के प्रति सन्तानोत्पत्ति और कुल परंपरा के निर्वाह के द्वारा इन ऋणों का समुचित परिपालन करता था।

गृहस्थ का महत्व

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्व वैदिक काल से ही माना जाता है। आर्यों को यह विदित था कि परिवार का महत्व केवल वंश-वृद्धि तक ही सीमित नहीं

होता है, वरन् स्वयं संस्कृति की रक्षा के लिए भी यह संस्था अनिवार्य है। परिवार में ही बच्चा प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, समाज की परम्पराओं तथा धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है। अत: आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया था। बौधायन धर्म-सूत्र में वास्तविक आश्रम केवल गृहस्थाश्रम को माना गया है। ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है और वानप्रस्थ तथा संन्यास वैदिक परम्परा के विरुद्ध है। गौतम ने इसे अन्य आश्रमों का मूल बताया है। महाभारत में भी गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा की गई है। किन्तु हिन्दू शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम का विधान केवल सूत्र का उपभोग के लिए ही नहीं किया था। गृहस्थ का प्रमुख उद्देश्य धीरे-धीरे धर्म का संग्रह करना था। इस हेतु शास्त्रकारों ने पंचमहायज्ञों का विधान किया था। इस यज्ञ का प्रयोजन नित्य ईश्वर के प्रति भक्ति, ऋषियों के प्रति श्रद्धा, समस्त सृष्टि के प्रति दया तथा उदारता के भाव दिखाना, स्वाध्याय करना और पितरों का स्मरण करना था। यह महायज्ञ निम्नलिखित हैं-

(1) ब्रह्मयज्ञ (वेदों का अध्ययन), (2) देवयज्ञ, (3) पितृयज्ञ, (4) भूत-यज्ञ अर्थात् भूतों और प्राणियों को बल देना, (5) मनुष्य यज्ञ (अतिथियों का सत्कार करना), पितरों को श्राद्ध देना गृहस्थ का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। इसमें मृत पितरों को पिण्डदान दिया जाता था। जो व्यक्ति पिंडदान में सम्मिलित हो सकते थे उन्हें सपिंड अथवा निकट संबंधी कहा जाता था। तीन ऋणों का सिद्धांत भी गृहस्थ के कर्त्तव्य माने जाते हैं। (एम.पी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और दर्शन, पृ. 161-162)

हिन्दू संस्कृति में विवाह और गृहस्थाश्रम का महत्व वैदिक काल से ही अत्यंत विशिष्ट रहा है। वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझा था कि परिवार केवल वंशवृद्धि का माध्यम मात्र नहीं है, बल्कि यह संस्कृति, धर्म और सामाजिक मूल्यों की रक्षा के लिए भी एक अनिवार्य संस्था है। मनुष्य के जीवन में व्यक्तित्व विकास, मूल्यबोध, और धर्माचरण की प्रारम्भिक शिक्षा परिवार में ही होती है। बालक वहीं से सामाजिक उत्तरदायित्व, कर्तव्य-बोध और परंपराओं के संस्कार ग्रहण करता है। इसीलिए हिन्दू जीवन व्यवस्था में आश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थाश्रम को केन्द्रबिन्दु तथा सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना गया है। बौधायन धर्मसूत्र में तो गृहस्थाश्रम को एकमात्र वास्तविक आश्रम माना गया है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी है, और वानप्रस्थ तथा संन्यास वैदिक परंपरा के विरुद्ध हैं। महर्षि गौतम ने भी गृहस्थाश्रम को अन्य सभी आश्रमों का मूल बताया है। महाभारत में कहा गया है - 'गृहस्थो हि आश्रमाणां पति:।' अर्थात् गृहस्थाश्रम ही सभी आश्रमों का पालनकर्ता और पोषक है। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम की संकल्पना केवल सांसारिक

सुख और इन्द्रिय भोग के लिए नहीं की थी। उनका उद्देश्य था कि गृहस्थ अपने जीवन में धर्म का संचय करे, आत्मविकास करे और समाज-रचना में सक्रिय भूमिका निभाए। इसी उद्देश्य से शास्त्रों में पंचमहायज्ञों का विधान किया गया है, जो गृहस्थ के नित्य कर्तव्य माने गए हैं- (1) ब्रह्मयज्ञ - वेदों का अध्ययन और स्वाध्याय, (2) देवयज्ञ, (3) पितृयज्ञ, (4) भूतयज्ञ, (5) नरयज्ञ (मनुष्ययज्ञ), पितृयज्ञ के अंतर्गत पिंडदान की परंपरा महत्वपूर्ण मानी गई है। इसमें उन पितरों को श्रद्धापूर्वक अर्पण किया जाता है जो सपिंड (निकट संबंधी) होते हैं। इसके अतिरिक्त तीन ऋणों का सिद्धांत भी गृहस्थ पर लागू होता है — देव ऋण, ऋषि ऋण, और पितृ ऋण। गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह यज्ञ, स्वाध्याय, संतानोत्पत्ति और पितरों का तर्पण करके इन ऋणों से मुक्त होने का प्रयत्न करे।

गृहस्थ के कर्त्तव्य तथा ऋण का सिद्धान्त

हिन्दू धर्म में गृहस्थ को केवल अपने परिवार का भरण-पोषण करने वाला नहीं, बल्कि समाज, संस्कृति और धर्म की निरंतरता का पोषक माना गया है। इसीलिए शास्त्रों में गृहस्थ के लिए तीन प्रमुख ऋणों को चुकाना अनिवार्य बताया गया है -

(1) पितृ ऋण :— यह ऋण संतानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जाता है। संतान के माध्यम से ही कुल परंपरा, संस्कार, और श्राद्ध-तर्पण आदि की परंपरा चलती है।

(2) ऋषि ऋण :- इस ऋण की पूर्ति स्वाध्याय और शास्त्रों के अध्ययन से होती है।

(3) देव ऋण :— यह ऋण यज्ञ, पूजन और देवसेवा के माध्यम से चुकाया जाता है।

इन त्रिविध ऋणों के अतिरिक्त गृहस्थ के अनेक सामाजिक, नैतिक और पारिवारिक कर्तव्य भी होते थे। जैसे:- पिता-माता की सेवा, गृहस्थ में प्रेमपूर्ण निवास, सार्वजनिक कल्याण कार्य जैसे तालाब, कुआँ, धर्मशाला, वृक्षारोपण आदि करवाना जिससे समाज का जीवन सुगम और समृद्ध हो।

वानप्रस्थ आश्रम :- वानप्रस्थ आश्रम का विधान केवल द्विजों के लिए था और प्राचीन काल में इसे 'वैखानस' नाम से भी जाना जाता था। मनु का निर्देश है कि जब व्यक्ति अपने पौत्र का मुख देख ले, तब उसे तीसरे आश्रम वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिए। जब किसी पुरुष के केश श्वेत हो जाते और शरीर पर वृद्धावस्था की रेखाएँ उभरने लगतीं, तब वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम के सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर जीवन के तीसरे चरण वानप्रस्थ में प्रवेश करता था। यह वह अवस्था थी जिसमें मनुष्य इन्द्रियों पर संयम, वैराग्य और आत्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होता था। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ या अकेले

ही गृह, परिवार और ग्राम को त्यागकर वन में निवास करता था। उसका प्रमुख उद्देश्य था सांसारिक बंधनों से धीरे-धीरे विरक्ति प्राप्त करते हुए तपस्वी जीवन जीना। मनुस्मृति के अनुसार, वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश के पश्चात मनुष्य को श्रद्धा, संयम और त्याग के साथ जीवन व्यतीत करना चाहिए। वह यज्ञ, स्वाध्याय, ध्यान, उपवास और तप के माध्यम से आत्मिक शुद्धि की साधना करता था। यह आश्रम, संन्यास की तैयारी का काल माना जाता था, जिसमें वह ध्यानपूर्वक संसार की नश्वरता का अनुभव करते हुए अन्त:करण की ओर उन्मुख होता था। मनु का मत है कि जो व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम के कर्तव्यों का विधिवत पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

संन्यास आश्रम :- संन्यास आश्रम की व्यवस्था का उल्लेख उत्तर-उपनिषद् काल से प्राप्त होता है। प्रारंभिक काल में वानप्रस्थ और संन्यास के मध्य कोई कठोर भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, किंतु कालांतर में इन दोनों के उद्देश्यों और जीवनचर्या में स्पष्ट अंतर स्थापित हो गया है। जीवन के चौथे और अंतिम चरण में, वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात, व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था, जिसका तात्पर्य है संपूर्ण रूप से सांसारिक जीवन का परित्याग। इस आश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कुटुम्ब, धन, संबंधों और सभी लौकिक बंधनों को त्याग कर आध्यात्मिक मुक्ति की साधना में प्रवृत्त होता था। बौद्ध युग एवं उसके पश्चात संन्यास की महत्ता और अधिक बढ़ गई। यह आश्रम उस अवस्था का प्रतीक बन गया जहाँ बौद्धिक जागरण, आध्यात्मिक ज्ञान और मोक्ष की आकांक्षा पूर्ण रूप से व्यक्त होती है। आलोच्यकाल में संन्यासी के लिए परिव्राजक, भिक्षु, जैसे अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी होने लगा। मनुस्मृति में संन्यासी के साथ 'त्रिदण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है। त्रिदण्ड का अभिप्राय है— मनोदण्ड, वाक्दण्ड और कायदण्ड, अर्थात् मनसा (असंग्रह, निरहंकारिता एवं लोककल्याण की भावना से आत्मचिंतन), वाचा (कठोर या अप्रिय वचनों को भी धर्मपूर्वक सहन करना), काया (शरीर पर ध्यान न देना, बाल, दाढ़ी, नाखून आदि को बिना छाँटे बढ़ने देना) मनु के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि संन्यासी केवल बाह्य वस्त्रों या वेशभूषा से नहीं, बल्कि मन, वाणी और काया तीनों से ही त्यागमय और आत्मनिष्ठ होता है। जो संन्यासी काम और क्रोध को वश में रखते हुए इस त्रिदण्ड का व्यवहार करता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित 'दण्ड' का अभिप्राय भी संभवतः इसी त्रिदण्ड से है, जो संन्यास जीवन की अनुशासनात्मक मर्यादा का प्रतीक माना जाता है।

आश्रम व्यवस्था की विशेषताएँ

वर्णाश्रम व्यवस्था ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा

उसके उत्कर्ष में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से यह व्यवस्था तत्कालीन समाज की संरचना को संतुलन और स्थायित्व प्रदान करने में पूर्णत: सक्षम रही। इस व्यवस्था में सिद्धान्त और व्यवहार का जो अद्वितीय समन्वय प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास हेतु एक सुव्यवस्थित मार्ग प्रस्तुत करती है, अपितु सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्तरदायी, समर्थ और चरित्रवान व्यक्तियों का निर्माण भी करती है। वर्णाश्रम व्यवस्था ने व्यक्तिगत उन्नति तथा सामाजिक समरसता — दोनों का समवेत रूप से ध्यान रखते हुए एक ऐसी जीवनपद्धति की स्थापना की, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के विभिन्न चरणों में अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे पुरुषार्थों की साधना कर सकता था।

जाति प्रथा का विकास :- भारतीय समाज में जाति-प्रथा की उत्पत्ति, स्वरूप और विकास पर विद्वानों द्वारा प्राचीन काल से ही विचार किया गया है। इस सामाजिक संरचना की जड़ें वैदिक युग में गहराई तक समाई हुई हैं, जहाँ जाति-प्रथा का रूप अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सुगठित था। उस समय समाज दो प्रमुख वर्गों में विभाजित था— आर्य और अनार्य। आर्यों के भीतर सामाजिक उत्तरदायित्वों के आधार पर एक सुव्यवस्थित वर्ण-व्यवस्था का निर्माण हुआ, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन जन्म पर आधारित न होकर, मुख्यत: कार्य-क्षमता, गुण और प्रवृत्ति पर आधारित था। ब्राह्मण ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में, क्षत्रिय शासन और सुरक्षा में, वैश्य वाणिज्य और कृषि में, जबकि शूद्र सेवा कार्यों में नियोजित होते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्य वर्ण-व्यवस्था में तो सम्मिलित थे, परन्तु अनार्य इस व्यवस्था के बाहर माने जाते थे। फिर भी, शूद्रों को, यद्यपि समाज में अपेक्षाकृत निम्न स्थान प्रदान किया गया, वर्ण-व्यवस्था में स्थान अवश्य प्राप्त था। इतिहास साक्षी है कि कई शूद्रों ने अपने कर्म, तप और विद्या के बल पर ब्राह्मणत्व तक प्राप्त किया।

जाति तथा वर्ण में अन्तर

डॉ. रालिन्सन के अनुसार, 'जाति' शब्द पुर्तगाली भाषा का है, जिसका मूल अर्थ किसी सामाजिक वर्ग की पवित्रता और शुद्धता को अभिव्यक्त करना है। यह शब्द भारत में यूरोपीय आगमन के पश्चात् सामाजिक संरचना को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगा। डॉ. गोखले ने जाति और वर्ग (वर्ण) के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहाँ जाति का निर्धारण वंश, कुल, सामाजिक रीति-नीति और कर्म पर आधारित होता है, वहीं वर्ण का आधार शारीरिक रंग अथवा बाह्य लक्षण हुआ करता था। उन्होंने प्रमाण रूप में यह बताया कि आर्य और अनार्य दो पृथक जातियाँ

थीं, किंतु वैदिक साहित्य में 'वर्ण' शब्द जाति के लिए नहीं, वरन् शारीरिक वर्ण (रंग) को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होता था। जब गौरवर्ण आर्यों ने कृष्णवर्ण अनार्यों को अपने सामाजिक ढाँचे में स्थान दिया, तब उन्होंने उन्हें 'अनार्य जाति' न कहकर 'काले वर्ण' के रूप में सामाजिक स्थिति प्रदान की। इसी प्रक्रिया में वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था के बीच सांस्कृतिक और सामाजिक दूरी का बीजारोपण हुआ।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति

ऋग्वेद, जो आर्य जाति की प्रथम रचना मानी जाती है, वर्ण-व्यवस्था को ईश्वर द्वारा निर्मित बताते हुए उसे अत्यधिक पवित्र और शाश्वत सिद्ध करता है। इसके अनुसार, ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस दृष्टिकोण में वर्ण-व्यवस्था को एक दिव्य आशीर्वाद या आदेश के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसे **ईश्वर ने रचित माना गया है। चूँकि वेद को आपौरुषेय और अलौकिक माना जाता है, इसलिए उसमें उल्लिखित वर्ण-व्यवस्था को असत्य नहीं माना जा सकता। इसे देवताओं के आदेश के रूप में स्वीकार किया गया है। हालांकि, यह केवल वेदों का धार्मिक और आध्यात्मिक वर्णन है, जिसे ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह था कि आर्य समाज को अपनी जातीय पहचान और सांस्कृतिक शुद्धता को बनाए रखने की चिंता थी। जब उन्होंने देखा कि उनके संपर्क में अनार्य, दस्यु और दास आ गए हैं, तो वे इन समूहों को शूद्र की श्रेणी में रखकर उनकी पहचान को नियंत्रित करना चाहते थे। इसके बाद, ऋग्वेद के अंतिम मंडल, जिसे बाद में रचित माना गया, में पुरुष सूक्त के माध्यम से वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय और अलौकिक रूप में प्रस्तुत किया गया।

वर्ण के आधार पर उत्पत्ति का सिद्धांत :- वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को लेकर यदि रंग के आधार पर विचार किया जाए तो इसका स्पष्ट उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि जब ब्रह्मा ने देव, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, पिशाच, राक्षस, नाग आदि के साथ-साथ मनुष्यों की सृष्टि की, तब उन्होंने चारों वर्णों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न वर्ण से की — ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला, और शूद्र का काला बताया गया।

कर्म के आधार पर उत्पत्ति :- वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को लेकर कर्म-प्रधान दृष्टिकोण का प्रतिपादन प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से प्राप्त होता है। भारद्वाज द्वारा यह प्रश्न उठाया गया कि यदि वर्ण-भेद का आधार केवल रंग होता, तो निश्चय ही जातियाँ आपस में मिश्रित हो जातीं, क्योंकि शरीर की रचना तो सभी में समान

होती है। इस पर भृगु ने उत्तर दिया — ''वास्तव में मनुष्यों में कोई जन्मजात भेद नहीं है।'' प्रारंभ में समस्त मानव समाज ब्राह्मण ही था, परंतु कर्मों के आधार पर उनमें विभिन्न वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी कर्मसिद्धांत की पुष्टि श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण** द्वारा की गई है, जहाँ वे कहते हैं —'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' अर्थात् — गुण और कर्म के आधार पर मैंने चातुर्वर्ण्य की रचना की है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि यद्यपि ऋग्वेद में वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरीय एवं अलौकिक स्वरूप प्रदान किया गया था, तथापि पश्चात्कालीन स्मृतिग्रंथों, महाकाव्यों तथा उपनिषदों में यह व्यवस्था कर्म, गुण और धर्म पर आधारित मानी गई। इस प्रकार आदर्शतः वर्ण-व्यवस्था जन्म नहीं, कर्म की कसौटी पर टिकी थी।

पुरुषार्थ

हिन्दू धर्मशास्त्रों में 'पुरुषार्थ' का तात्पर्य मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक, नैतिक और सांसारिक लक्ष्यों से है। 'पुरुषार्थ' शब्द दो पदों से मिलकर बना है 'पुरुष' अर्थात् मनुष्य तथा 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन या साध्य। अतः पुरुषार्थ का आशय है — 'मानव जीवन में क्या प्राप्त करना श्रेयस्कर है।' वेदों तथा स्मृतिग्रंथों में मनुष्य के लिए चार मूल पुरुषार्थों की व्यवस्था की गई है — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिन्हें सामूहिक रूप से 'पुरुषार्थचतुष्टय' कहा गया है। महर्षि मनु इस पुरुषार्थ-चतुष्टय के प्रवक्ता माने जाते हैं। परंतु चार्वाक दर्शन केवल अर्थ और काम को ही यथार्थ मानते हुए, धर्म और मोक्ष को अस्वीकार करता है, क्योंकि वह आत्मा, पुनर्जन्म एवं परलोक को नहीं मानता। इसके विपरीत, महर्षि वात्स्यायन, यद्यपि पुरुषार्थ चतुष्टय के सिद्धांत का समर्थन करते हैं, तथापि वे मोक्ष या परलोक की अपेक्षा धर्म, अर्थ और काम पर आधारित गृहस्थ जीवन को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

योगवासिष्ठ के अनुसार, सद्जनों एवं शास्त्रों के उपदेशानुसार चित्त का विचरण ही पुरुषार्थ कहलाता है। भारतीय संस्कृति में इन चारों पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विशेष महत्व रहा है। वस्तुतः इन्हीं पुरुषार्थों ने भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता और भौतिकता के मध्य एक अद्भुत समन्वय स्थापित किया है, जिससे जीवन का समग्र और संतुलित विकास संभव हुआ है।

धर्म

प्राचीन भारत के मनीषियों ने धर्म को केवल आस्था या पूजा-पद्धति के रूप में नहीं, अपितु एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक जीवन-पद्धति के रूप में समझा और व्याख्यायित किया। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा इन शब्दों में दी है — 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' (कणाद, वैशेषिकसूत्र 1.1.2) इस परिभाषा में 'अभ्युदय' का तात्पर्य लौकिक उन्नति अर्थात आर्थिक, सामाजिक,

शारीरिक और मानसिक विकास से है, जबकि 'नि:श्रेयस' का अभिप्राय है आत्मिक कल्याण, मोक्ष या परम शांति। इस प्रकार धर्म का उद्देश्य मानव जीवन के दोनों आयामों — ऐहिक (भौतिक) और पारलौकिक (आध्यात्मिक) की पूर्णता है। धर्म एक व्यापक अवधारणा है, जो केवल किसी उपासना-पद्धति, संप्रदाय या रीतिरिवाज तक सीमित नहीं है। धर्म वह विराट और विलक्षण जीवन-पद्धति है जो जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। यह कोई दिखावटी आडंबर नहीं, अपितु आचरण में उतरने वाला गहन दर्शन है। धर्म आत्मा की गहराई में उतर कर अपने अस्तित्व की खोज करने की प्रक्रिया है। धर्म का कार्य है मनुष्य को आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि (सामाजिक संकट) से मुक्ति देकर उसे संतुलित, शांत और अनुशासित जीवन की ओर ले जाना। यही कारण है कि धर्म, ज्ञान और आचरण की खिड़की खोलता है, जो मनुष्य को पशुता से मानवता की ओर प्रेरित करता है। वस्तुत: धर्म का वास्तविक स्वरूप हृदय की पवित्रता और जीवन में संयम है। यह केवल बाह्य नियमों का पालन नहीं, अपितु आंतरिक अनुशासन, करुणा, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और आत्मनियंत्रण जैसे मूल्यों का जीवन में अनुपालन है।

अर्थ

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अर्थ की संक्षिप्त और सटीक परिभाषा दी है — 'मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः।' अर्थात् जो भी विचार, प्रयास, साधन या क्रियाएं मानव के भौतिक जीवन और जीवन-निर्वाह से जुड़ी होती हैं, वे अर्थ के अंतर्गत आती हैं। धर्म के बाद अर्थ का स्थान भारतीय पुरुषार्थ चतुष्टय में दूसरा है। ऐसा इसलिए क्योंकि मानव जीवन का सामान्य प्रवाह और प्रगति बिना अर्थ के संभव नहीं है। सभी सांसारिक क्रियाएं जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार, निर्माण, विज्ञान, शिक्षा, सेवा आदि धन के माध्यम से ही क्रियाशील होती हैं। यही नहीं, धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, दान, शिक्षा-प्रसार, शास्त्रों का प्रचार और जनकल्याण भी अर्थ के अभाव में संभव नहीं हो सकते। इसलिए, भारतीय मनीषियों ने अर्थोपार्जन को केवल भौतिक लालसा नहीं, बल्कि एक पवित्र कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है। मनुष्य को चाहिए कि वह प्रकृति की संपदा का विवेकपूर्वक उपयोग करे, न केवल अपने लिए, बल्कि समग्र समाज के कल्याण हेतु भी। किन्तु इस अर्थोपार्जन की दिशा और मर्यादा का निर्धारण धर्म करता है। यदि मनुष्य अर्थ-संचय की प्रक्रिया में धर्म से विमुख हो जाए, तो वह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, पर्यावरण-नाश, सामाजिक असंतुलन और नैतिक पतन जैसे संकटों का कारण बन सकता है। अत: अर्थ का उपयोग धार्मिक मर्यादा, सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिक विवेक के साथ किया जाना चाहिए। धर्म हमें यह सिखाता है कि — जितना लिया है, उससे अधिक समाज को लौटाने का प्रयास करो।

शास्त्रों में अर्थ को मानव जीवन की सुख-सुविधाओं का मूल कहा गया है। चाणक्य सूत्र में स्पष्ट कहा गया है— 'धर्ममूलं अर्थः।'(चाणक्यसूत्र 1/2) अर्थात् धर्म का भी मूल आधार अर्थ ही है। मनुष्य जीवन में सुख की प्राप्ति के लिए अर्थ की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। इसलिए आचार्य कौटिल्य ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में अर्थ को प्रधान मानते हुए उसे धर्म और काम दोनों का मूल आधार बताया है। उनके अनुसार यदि अर्थ का अभाव हो, तो न धर्म का पालन संभव है और न ही कामनाओं की पूर्ति। कौटिल्यीय दृष्टिकोण के अनुसार, भूमि, धन, पशु, मित्र, विद्या, कला, कृषि आदि सभी वस्तुएं अर्थ की श्रेणी में आती हैं। इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है, क्योंकि ये मानव की आवश्यकताओं पर निर्भर होती हैं, जो समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय हैं। मानव स्वभाव से ही कामनामय प्राणी है। वह निरंतर इच्छाओं और आकांक्षाओं से प्रेरित होता है। इन सभी कामनाओं की पूर्ति का एकमात्र माध्यम अर्थ ही होता है। इस संदर्भ में आचार्य वात्स्यायन की यह परिभाषा अत्यंत सारगर्भित है— विद्या, भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर, मित्र आदि का अर्जन तथा अर्जित वस्तुओं का संरक्षण और संवर्द्धन ही अर्थ है।

काम

भारतीय दर्शन में काम का स्थान पुरुषार्थ चतुष्टय में तीसरे क्रम पर है। सामान्यत: काम शब्द का तात्पर्य इन्द्रिय-सुख, इच्छाओं, आकर्षणों और मानसिक व शारीरिक सुखों की ओर प्रवृत्ति से होता है, किंतु शास्त्रों में इसका विवेचन कहीं अधिक सूक्ष्म और गूढ़ रूप में किया गया है। महर्षि वात्स्यायन, जो कामशास्त्र के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं, काम को परिभाषित करते हुए कहते हैं — जब आत्मा, मन से संयुक्त होकर इन्द्रियों (चक्षु, जिव्हा, घ्राण आदि) के द्वारा अपने-अपने विषयों (रूप, रस, गंध, आदि) में अनुकूल प्रवृत्त होती है, तो वह प्रवृत्ति 'काम' कहलाती है। इसके अतिरिक्त जब स्पर्श से प्राप्त सुख, मान, और फल की आशा से संबद्ध होकर किसी क्रिया में प्रवृत्ति होती है, तब भी वह काम कहलाती है। वात्स्यायन यह भी स्पष्ट करते हैं कि काम, अर्थ, और धर्म इन त्रिवर्गों में तुलनात्मक श्रेष्ठता विषय, काल, और व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर करती है। सामान्यत: काम से श्रेष्ठ अर्थ है, और अर्थ से श्रेष्ठ धर्म है। किन्तु व्यक्ति के जीवन-स्तर और उद्देश्य के अनुसार कभी-कभी काम भी अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है, जैसे कि युवा अवस्था में विवेकयुक्त इच्छाओं की पूर्ति मानसिक संतुलन और सामाजिक संतुलन के लिए आवश्यक होती है। माध्वाचार्य के अनुसार काम दो प्रकार का होता है-

(1) सामान्य काम — जो इन्द्रिय विषयों के भोग की सामान्य इच्छा से उत्पन्न होता है।

(2) शाब्दिक कामना — जब आत्मा, मन के माध्यम से विषयों में प्रवृत्त होती है और श्रवण, स्पर्शं, दृष्टि, स्वाद, गंध जैसी इन्द्रियों के विषयों में आकर्षिंत होती है।

न्याय-वैशेषिक दर्शंन के अनुसार, काम की उत्पत्ति बुद्धि के विषय-प्रवण स्वभाव से होती है। आत्मा, बुद्धि के माध्यम से विषयों का अनुभव करती है और सुख की अनुभूति ही काम कहलाती है। वस्तुतः काम तब तक पुरुषार्थं है, जब तक वह धर्मं के अधीन है; अन्यथा वह विकार बन जाता है।

मोक्ष

भारतीय दर्शन में मोक्ष को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ और अंतिम लक्ष्य माना गया है। यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा संसार के बंधनों से पूर्णतः मुक्त होकर अपने स्वरूप— परम शांति, अमरत्व और ब्रह्मानंद में स्थित हो जाती है। आत्मा को शास्त्रों में नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अनादि तत्व कहा गया है। यह शरीर में रहते हुए कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में फँसी रहती है। जब आत्मा अविद्या (अज्ञान), अहंकार, राग-द्वेष आदि के कारण अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाती है, तो उसे संसार में अनेक बार जन्म लेना पड़ता है यह स्थिति बद्धता की है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य योनि ही कर्म योनि है, जबकि अन्य योनियाँ केवल भोग योनि हैं। अर्थात केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो कर्म, ज्ञान और साधना के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जब योगी, सद्‌गुरु के मार्गदर्शन में चलकर विकर्म अर्थात शुभ और अशुभ दोनों कर्मों से ऊपर उठ जाता है, तब वह योग (आत्मा और परमात्मा का मिलन) की स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में आत्मा कर्मबंधन से परे होकर अकर्म की अवस्था में पहुँच जाती है जहाँ कोई नवीन बंधन नहीं बनता। वह केवल प्रारब्ध कर्मों का फल भोगता है और जीवन के अंत में विदेह होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष की यह अवस्था जन्म-मरण के चक्र से पूर्ण मुक्ति है — न कोई जन्म, न कोई मृत्यु, न कोई बंधन, न कोई क्लेश। यही आत्मा की परम सिद्धि और मानव जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में वैदिक संस्कृति के मूल तत्व समाज सुधारण करने और सम्यक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। भारतीय समाज की सर्वोत्तम उपलब्धियां आचार-विचार मूलक सामाजिक व्यवस्था है जिसमें एक ओर समाज का निर्माण, व्यक्ति का निर्माण और उसके उद्देश्यों को वर्णित किया गया है तथा दूसरी ओर विभिन्न दशाओं में उनके कर्तव्य ही उसे आदर्श समाज के निर्माण में योगदान करते हैं।

❑❑❑